

अर्धमागधी आगम साहित्य कुछ सत्य और तथ्य

अर्धमागधी आगम प्राकृत साहित्य का प्राचीनतम रूप

भारत की तीन प्राचीन भाषाएँ हैं— संस्कृत, प्राकृत और पाली। उनमें प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन हैं। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई०पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचाराङ्ग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और भगवान् महावीर की स्वयं की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं।^१ इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण उस व्यक्ति द्वारा लिखा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना है। अर्धमागधी आगमसाहित्य में ही सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय, आचाराङ्गचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है किन्तु वह भी अपेक्षाकृत रूप में आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती है, क्योंकि उनमें क्रमशः अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालि साहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालि साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित सुत्तनिपात से भी प्राचीन है।^३ अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था।^४ इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तरसीमा ई०पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

अर्धमागधी आगमों का रचनाकाल

हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक

व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाणसम्बत् ९८० में वलभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान् मित्र सहज निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पांचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पांचवी-छठी की शती की रचना है, तो वलभी की इस वाचना के पूर्व भी वलभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वलभी में मुख्यतः आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारूढ़) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषयवस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत् रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनके प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाते और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्याय में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय वस्तु में कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका अर्धमागधी का 'त' प्रधान स्वरूप सुरक्षित है। आचाराङ्ग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अनेक पाठान्तर हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है।^{१४} उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का 'रामपुते' पाठ चूर्णि में 'रामाउते' और शीलांक की टीका में 'रामगुते' हो गया।^{१५} अतः अर्धमागधी आगमों में महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनके प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीनस्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई० पू० पांचवी-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई० सन् की पांचवी शताब्दी है किन्तु अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा

शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका अंशविशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषयवस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं, धवला और जयधवला में मिलते हैं।^{१०} उसमें भी तत्त्वार्थ की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और धवलादि में उनकी विषयवस्तु सम्बन्धी मात्र अनुश्रुतिपरक निर्देश हैं, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं। उनमें दिया गया विवरण-तत्त्वार्थभाष्य के आधार पर परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध उनके जो विवरण स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में हैं वे ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित हैं अतः आगम ग्रन्थों की विषयवस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त ग्रन्थों से प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने, पुनः निशीथ के अलग होने की घटना समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाता के द्वितीय वर्ग में जुड़े अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृतदशा, अनुतरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें इनके समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है।^{११} इसमें प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण, लगभग ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परवर्धित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है। अतः आगम विशेष या उसके अंशविशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषयवस्तु, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात निहवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीर निर्वाण सं० ५८४ तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं हैं जो वीर निर्वाण सं० ६०९ अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषयवस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की

भाषा-शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्दिगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पांचवीं शताब्दी में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम गणधरों की रचना है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम का प्राचीनतम ग्रन्थ **कसायपाहुड** भी ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। अतः प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है।

अर्धमागधी आगमों की विषय वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषय वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। **भगवती** के कुछ अंश, **प्रज्ञापना**, **अनुयोगद्वार**, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, उनको छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराईयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के **समयसार** के समान सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी उनमें कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती हैं, किन्तु चिन्तन के विकासक्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर के होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के आधारभूत भी। **समवायांग** में जीवस्थानों के नाम से १४ गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि **षट्खण्डागम** जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। **मूलाचार**, **भगवती-आराधना**, **कुन्दकुन्द** के ग्रन्थ और **गोम्मटसार** आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूंकि **तत्त्वार्थ** में गुणस्थानों की चर्चा एवं स्याद्वाद सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी के रचनाएँ **तत्त्वार्थ** के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार **कसायपाहुड**, **षट्खण्डागम**, **गोम्मटसार** आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः अर्धमागधी आगमों की सरल बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी विशेषता एवं प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें विसंगतियाँ पायी जाती हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया। एक ओर उनमें अहिंसा की सूक्ष्मता के साथ पालन के निर्देश हैं तो दूसरी ओर ऐसे अनेक निर्देश भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के विपरीत हैं। इस प्रकार एक ओर उनमें न केवल मुनि की अचेतता का प्रतिपादन है अपितु उसका समर्थन भी किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। **उत्तराध्ययन** में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं **उत्तराध्ययन** के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। वस्तुतः तथ्यों का यथार्थरूप में प्रस्तुतीकरण अर्धमागधी आगम साहित्य की विशेषता है। वस्तुतः तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों का कालक्रम-निर्धारण सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा के आचार एवं विचार में कालक्रम में कुछ परिवर्तन हुए। दार्शनिक चिन्तन और आचार-नियमों में कालक्रम में हुए परिवर्तनों को जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें तथ्यों के क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैन धर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होता गया इसकी जानकारी **ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन सूत्रकृतांग और भगवती** के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। **ऋषिभाषित** में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि अन्य परम्परा के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया। **उत्तराध्ययन** में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नग्गति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और **सूत्रकृतांग** में इनमें से कुछ को परम्परा-सम्मत माना गया, यद्यपि जैन परम्परा से उनके आचारभेद को भी दर्शाया गया; वहीं **ज्ञाताधर्मकथा** में नारद की और **भगवती** के पन्द्रहवें शतक में मंखलीगोशाल की कटु आलोचना की गई। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य में जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे कम होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये इसका यथार्थ चित्रण उपलब्ध होता है।

आचारांग— प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाता आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वपित्यों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच किस प्रकार सम्बन्धों में परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं।

अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्यासाहित्य के आधार

अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री व्याख्यासाहित्य के आधार रहे हैं, क्योंकि वे जैन धर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश-काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी भी सामग्री है जो उनकी अपनी मौलिक कही जा सकती है। फिर भी उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में अर्धमागधी आगमों को स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार की ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक निर्युक्ति, जीवसमास, आतुर प्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्दावेज्जय) आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार भगवती आराधना की अनेक गाथायें अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पड़ना) में मिलती हैं। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुख मालवणिया ने (प्र० १०६ एन० उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोपपन्नति का प्राथमिक रूप विशेषरूप से आवश्यक निर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है। इसप्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि उनका मूलआधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है, तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराईयाँ और विकास परिलक्षित होते हैं वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन हैं।

अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य शयम्भवसूरि की, छेदसूत्र आर्य भद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य (आज्जकण्ह) की कृति मानी जाती है। महानिशीथ का उसकी दोमकों से

भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था यह स्वयं उसी में उल्लेखित है। जबकि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्य-जन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधर अथवा पूर्वधरो की कृति है। इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें प्रायः सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई इस सम्बन्ध में **प्रश्नव्याकरण** की सम्पूर्ण विषयवस्तु के परिवर्तन का पूर्व में ही चर्चा की जा चुकी है। अभी अभी **अंगचूलिया** और **बंगचूलिया** नामक दो विलुप्त आगम ग्रन्थ प्राप्त हुये, जो भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध हैं, किन्तु जब उनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। क्योंकि अर्धमागधी आगमों की यह विशेषता है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

अर्धमागधी आगमों के वर्गीकरण का प्रश्न

यद्यपि आज अर्धमागधी आगमों को अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिकासूत्र और प्रकीर्णक के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। प्राचीनतम उल्लेख तो अंग और अंगबाह्य के रूप में ही मिलते हैं, इनमें भी १२ अंगों का तो स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु अंग बाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश कही नहीं है। पुनः नन्दी और तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य का आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त तथा कालिक एवं उत्कालिक के रूप में तो वर्गीकरण मिलता है, किन्तु उपांग, मूल, छेद आदि के रूप में नहीं मिलता है। अंगबाह्य आगमों की विस्तृत सूची भी नन्दी और तत्त्वार्थभाष्य में मिलती है, उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि न केवल दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य के ग्रन्थों का लोप हुआ है, किन्तु अनेक अर्धमागधी अंग बाह्य ग्रन्थों का भी लोप हो चुका है। यद्यपि इस लोप का यह अर्थ भी नहीं है कि उनकी विषयवस्तु पूर्णतः नष्ट हो गई, अपितु इतना ही है कि उसकी विषयवस्तु अन्यत्र किसी ग्रन्थ में सुरक्षित हो जाने से उस ग्रन्थ का रूप समाप्त हो गया।

आगमों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह अतिरंजना पूर्ण है। उनकी विषयवस्तु के आकार के सम्बन्ध में आगमों और परवर्ती ग्रन्थों में जो सूचनाएँ हैं वे उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न उपस्थित करती हैं। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषयवस्तु में क्रमशः विकास ही होता रहा है। यह कहना कि **आचारांग** के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित थी अथवा १४ वें पूर्व की विषयवस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था विश्वास की वस्तु हो सकती है, बुद्धिगम्य नहीं।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थदर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं० ब्रचरदास जी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बरों को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेंगे तो श्वेताम्बर सारे वस्त्र-पात्र के उल्लेख महावीरकालीन मानने लगेंगे और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ है। यही स्थिति अन्य प्रकार के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त अध्ययन की भी होगी। पुनः शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

सन्दर्भ :

१. प्रो० सागरमल जैन, 'अर्धमागधी आगमसाहित्य : एक विमर्श', प्रो० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी १९९८ ई०, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ७.
२. देखें— आचाराङ्ग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ९, उपधान श्रुत.
३. देखें— ऋषिभाषित : एक अध्ययन (डॉ० सागरमल जैन) पृ० ४-९.
४. आवश्यकचूर्णि, भाग २- पृ० १८७.
५. देखें— (अ) श्रमण, वर्ष ४१, अंक १०, १२ अक्तम्बर-दिसम्बर ९८ डॉ० के० आर चन्द्रा— क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध प्राकृत रूपों की कथा और उसका अर्धमागधी रूपान्तर, पृ० ४९-५६.
- (ब) के० आर० चन्द्रा, "आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वीकृत कुछ पात्रों की

समीक्षा”, पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ, वाराणसी १९९० ई०, हिन्दी खण्ड, पृष्ठ १-७.

६. प्रो० सागरमल जैन एवं प्रो० एम०ए० ढांकी, “रामपुत्र या रामगुप्तः सूत्रकृताङ्ग के संदर्भ में”, पं० बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ, पृ० ८-११.
७. (i) स्थानांग १०, (ii) समवायांग, (iii) नन्दी, (iv) नन्दीचूर्णि, (v) तत्त्वार्थभाष्य १, (vi) सर्वार्थसिद्धि, (vii) धवला, (viii) जयधवला।
८. प्रो० सागरमल जैन, ‘अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु’, पं० दत्तसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी १९९१ ई०; हिन्दी खण्ड, पृष्ठ १२-१८.

